International Journal of Advanced Educational Research
www.educationjournal.org
ISSN: 2455-6157
Received: 02-08-2021, Accepted: 15-08-2021, Published: 30-08-2021
Volume 6, Issue 4, 2021, Page No. 41-44

अभिनवगुप्त का रसविषयक सिद्धांत

काजल ओझा
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत, सी. बी. गुप्त बी. एस. एस. महाविद्यालय, चन्द्रावल, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
भारतीय रस–चिन्तन की परम्परा में आचार्य अभिनवगुप्त का स्थान महत्वपूर्ण है। जिन्होंने इस सिद्धान्त में अभिव्यक्ति–वाद की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसे व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। वस्तुतः रस शब्द का बीजारोपण वेद से हुआ है। वहां रस के लिए स्वादु, मधु, पान आदि का वाक् और रूद्र के लिए प्रयोग किया गया है।
अभिनवगुप्त रस को अलौकिक स्वीकार किये हैं और इसकी अलौकिकता की सिद्धि भी करते हैं। लोक में पायी जाने वाली वस्तु दो प्रकार की होती है–एक कार्यरूप, दूसरा ज्ञान्यरूप। रस लौकिक वस्तु से परे कोई अलौकिक तत्त्व ही हैं–

मूल शब्दः अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, रस, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि

प्रस्तावना

अलंकारशास्त्र के इतिहास में रस–सम्प्रदाय प्राचीनतम एवम् अद्वितीय है। इस भारतीय रस–चिन्तन की परम्परा में आचार्य 'अभिनवगुप्त' का स्थान महत्वपूर्ण है। जिन्होंनें रस सिद्धान्त में 'अभिव्यक्तिवाद' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसे एक अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान किया है। इन्होंने 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' टीका लिखी है, जिसमें रसवादी आचार्यों के सिद्धान्तों को उद्धृत करते हुए अपने मत का भी प्रतिपादन किया है। रस का निरूपण संस्कृत – साहित्य में भरतमुनि द्वारा किया गया है। इनको रस– विवेचन का प्रथम 'आचार्य' स्वीकार किया गया है। 'नाटयशायस्त्र' रस विवेचन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। जिसमें रस को आस्वाघत्वात् कहा गया है– 'रसः इति कः पदार्थः' (1) 'आस्वाघत्वात् इति रसः'। (2) भारतीय वाङ्मय में रस का चार अर्थों में प्रयोग मिलता है – (1) पदार्थों का रस, (2) आयुर्वेद का रस, (3) साहित्य का रस, (4) भक्ति रस। इनमें साहित्य रस से तात्पर्य काव्य–सौन्दर्य, काव्यास्वाद तथा काव्यानन्द समझा जाता है। रस शब्द का बीजारोपण वेद से है। वहां रस के लिए स्वादु, मधु, पान आदि विशेषणों का वाक् और रुद्र के लिए प्रयोग किया गया है –

'वचः स्वादो स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्'[3]

अर्थात् रूद्र को प्रसन्न करने के लिए स्वादु से भी स्वादु वचन। वेद के बाद उपनिषदों में भी रस शब्द का कथन किया गया हैं। तैन्तिरीयोपनिषद् में वह (ब्रह्म) जो प्रसिद्ध सुकृत रूप है, वह निश्चय ही रस हैं–
'यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः'।[4]
साहित्य रस के विवेचन में वैदिक साहित्य के अनन्तर भरतमुनि के नाटयशास्त्र के प्रथम अध्याय में रस तत्त्व को अथर्ववेद से ग्रहण किया हैं–

जग्राह पाठयमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।[5]

इन्होंने छठें अध्याय मे सबसे पहले रस की व्याख्या की है, क्योंकि रस के बिना कोई अन्य अर्थ (नाट्यांग) प्रवृत्त नहीं हो सकता – 'नहि रसादृते करिश्दर्थ; प्रवर्तते।' (6) इसी अध्याय में ही इन्होंने रसविषयक लक्षणसूत्र प्रस्तुत किया है–

'विभावानुभाव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।[6]

इसका भाव यह है कि अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। रस के स्वरथ्य का विवेचन भरतमुनि ने दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है –

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्वहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तिविदो जनाः।।[8]
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मानाटयसाः स्मृताः।।[9]

अर्थात् जिस प्रकार अनेक प्रकार के द्रव्यों से युक्त बहुत से व्यंजनों से बने हुए भात को खाने वाले भात के स्वाद के विशेषज्ञ लोग खाते हुए उसका आस्वादन करते हैं। उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों एवं अभिनयों से सम्बद्ध स्थायी भावों का सहृदय पुरुष मन से आस्वादन करते है इसीलिए उन्हें (स्थायिभाव) को 'नाटयरस' कहा गया है।
रस–लक्षणसूत्र और रस–स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् भरत ने छठे एवं सातवें अध्याय में रस के सहायक स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का निरूपण किया हैं –
(क) स्थायिभावः भाव शब्द 'भू' धातु से करण अर्थ में 'धञ्' प्रत्यय के योग से बना हैं, इसलिए भाव वासना से समानार्थक हैं। विभावादि भावों में स्थायी– भाव का विशिष्ट स्थान है। जिस प्रकार से मनुष्यों में राजा और शिष्यों में गुरु महान् होते है, उसी प्रकार सभी भावों में स्थायिभाव अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं –

यथा नराणां नृपतिः षिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावनां भावः स्थायी महानिह।।[10]

ये स्थायिभाव रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय आठ प्रकार के हैं। अभिनवगुप्त स्थायी भाव को रस से पृथक माना है। स्थायिभाव रस नहीं हैं, क्योंकि रस विभावादि के

सहयोग से उत्पन्न होता है और विभावादि की जीवितावधि तक विद्यमान रहता है।

(ख) विभावः भरतमुनि ने विभाव शब्द का अर्थ 'विज्ञान' स्वीकार किया है। कारण, निमित्त हेतु को उन्होंने पर्याय माना है। विभाव के द्वारा कयिक आंगिक, अभिनयों पर आश्रित अनेक पदार्थ विभावित होते हैं, अर्थात् अनेक भावों का अवबोध होता है। इसलिए विभाव कहलाते हैं –

बहवोऽर्था विभात्यन्ते वागग्ङाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्रेनायं विभाव इति संज्ञितः।।[11]

विभाव के दो भेद आलम्बन और उद्दीपन प्रथम जिसको आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है, उसको आलम्बन विभाव कहते हैं। यथा सीता को देखकर राम के मन के और राम को देखकर सीता के मन में रति की उत्पत्ति होती हैं। इसलिए सीतादि श्रृंगार रस का उद्दीपन विभाव कहा जाता है। प्रत्येक रस के उद्दीपन विभाव अलग–अलग होते हैं। भरतमुनि का अनुसरण करते हुए ग्याहरवीं शताब्दी के आचार्य 'शारदातनय' ने अपने ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' में विभाव का अर्थ 'ज्ञान' कराने वाला साधन माना है। और अर्थ को भावि करने का तात्पर्य अनुभूतिगत स्थिति को जागृत तथा उद्दीप्त करना है। 'वि' पद का 'विशेष' विभाव हैं–
"श्रृंगार एवं हास्य के विभाव ललित एवं ललिताभास, वीर एवं अद्भुत के स्थिर एवं चित्र, रौद्र एवं करुण के रुक्ष, तथा भयानक का विकृत एवं वीभत्स का निन्दित एवं उद्दीपन विभाव है।"

(ग) अनुभावः भरत ने अनुभाव के स्वस्थ्य को वाचिक, आंगिक एवं सात्विक, रूप में स्वीकार किया है। अनुभाव के द्वारा अभिनय अनुभावित होते हैं, अनुभूति के योग्य बनाये जाते हैं, इसलिए इसे अनुभाव कहते हैं –

वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाग्ङोपाग्ङसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः।।[12]

(घ) व्यभिचारी भावः व्यभिचारी शब्द की व्युत्पत्ति 'वि' 'अभि' दो उपसर्ग और 'चर' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है चलना या गतिशील होना। इस प्रकार व्यभिचारीभाव का अर्थ हुआ जो विविध रसों की ओर सञ्चरशील होते हैं, उन्हें व्यभिचारीभाव कहते हैं –

'धातु विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः'।[13]

इस प्रकार रस एवं उसके उपकारकों का स्पष्टीकरण भरतमुनि ने किया है, इसलिए भरतमुनि को संस्कृत साहित्य में रस का 'आद्य आचार्य' स्वीकार किया गया है। भरतमुनि के लक्षणसूत्र (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्यन्तिः) आधार पर ही परवर्ती रस आचार्यों ने 'रस' को व्याख्या करते हुए अपने मतों का प्रतिपादन किया है। इन रसवादी आचार्यों के मतों को अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में उद्धृत किया है। जिनमें प्रथम रसवादी आचार्य 'भट्लोल्लट' है और इनका मत उत्पत्तिवाद है। द्वितीय मत आचार्य शङ्कुक का है, जिसे अनुभितिवाद के नाम से जाना जाता है। तृतीय आचार्य भट्टुनायक है इनका मत भुक्तिवाद है। चतुर्थ आचार्य अभिनवगुप्त है जिनका मत 'अभिव्यक्तिवाद' है। उपर्युक्त सभी आचार्यों में सबसे मान्य मत इन्हीं का है।

अभनवभारती के मतानुसार अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है– 'आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत्संविद्विकासेऽधिगतामभित्वम्'।[14] अर्थात् रस–तत्त्व आम्नाय से सिद्ध है, इसमें कोई नई बात नहीं है, बुद्धि के विकास के साथ वस्तु का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। हम किसी नये तत्त्व का विवेचन करने नहीं जा रहे हैं जैसा कि भरतमुनि ने पहले कह दिया हैं –

'काव्यार्थान भावयन्ति' इति तत्काव्यार्थो रसः"।[15]

काव्यार्थ रस, की अनुभूति करने का अधिकारी निर्मल प्रतिभा से सम्पन्न हृदय वाला होता है, जिसको काव्यात्मक शब्द की प्रतीति अधिक होती हैं – 'काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्तिः। अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः।[16] इस अधिकारी को अभिज्ञान शकुन्तल नाटक के ग्रीवाभग्ङाभिराम और कुमारसम्भव के 'उमपि नीलालक' तथा हरस्तु किञ्चत्' इत्यादि वाक्यों से होने वाली वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद उस काव्य वाक्यों में प्राप्त कालादि विभाग की परवाह न कर साक्षात्कार रूप मानस अनुभव होता है – 'तस्य च ग्रीवाभग्ङाभिरामम्'[17] 'उमापि नीलालक'[18], 'हरस्तु किच्चित्'[19] इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रन्तिपत्तेरनन्तरमान–
सीसाक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागातावत्प्रतीतिरूपजायते'।[20]
उन काव्य वाक्यों में जो भृगशावक आदि का भाव होता है। उनके (साधारणीकरण) निर्विशेष हो जाने से यह भी है, यह ज्ञान होता है। और त्रासक दुष्यन्त के (कल्पित) होने से भय की देश काल आदि से असम्बद्ध प्रतीत होता है। अतः मैं भीत हूँ, यह भीत है, शत्रु, मित्र, मध्यस्थ भीत है, इत्यादि ज्ञान से दुःख का त्याग और सुख का ग्रहण, ऐसे नियम का परिहार हो जाता हैं–

'तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विषेष रूपत्वाभावाद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव पर देष कालाद्य नालिग्ङतम्। तत् एवं भीतोऽहं भीतोऽहं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादि प्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादि वुध्यन्तरोदयनियभवत्।[22]

नियमविशेष से रहित ज्ञान को उत्पन्न करने वाले, यतः विघ्न बहुल (लौकिक) ज्ञान से विलक्षण निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य हृदय में साक्षात् प्रवेश करता हुआ, आँखों के सामने घूमता हुआ सा भय स्थायिभाव भयानक रस होता है। इस प्रकार के भय में आत्मा न दी अत्यन्त तिरस्कृत न विशेष रूप से उल्लिखित ही होता है।
अन्य रसों में भी ऐसा ही जानना चाहिए –

'तथा विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्य साक्षादिव हृदये निविषमानं चक्षुषोखि विपरिवर्तमानं भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो न विषेषत उल्लिखितः'।[23] तत् एवं परिमित साधारण्यम् अपितु विततम्। यथा व्यक्ति ग्रह इव धूमाग्न्योः। भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसमाग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देषकाल प्रमात्रादीनां नियमहेतु नामन्योन्यप्रति बन्ध बलादत्यन्तमप्रसारणे स एव साधारणी भावः सुतरां पुष्यति'।[24]

अर्थात् रस के सहायक विभावादि का साधारणीकरण परिमित नहीं होता, अपितु विस्तृत होता है। अर्थात् जिस प्रकार धूआँ और अग्नि के व्याप्तिग्रह अथवा जिस प्रकार भय एवं कम्पन के व्याप्तिग्राह (साहचर्यनियम) विस्तृत होता है, उसी प्रकार साधरणीकरण भी विस्तृत होता है। यहां साक्षात्काररूप नाटकों में नट आदि उपकरण पोषक होते हैं। जिससे काव्य वस्तु में निबद्ध

और काव्य में निहित देशकाल, प्रमाता आदि के नियामक हेतुओं के परस्पर प्रतिबन्ध के बल से (पारस्परिक सम्बन्ध से) अत्यन्त दूर हो जाने पर वद साधारणीकरण अत्यन्त पुष्ट हो जाता है।

'अतएव सर्वसामाजिकानामेधनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय सर्वेषामनादि–वासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासेवादात् सा चाविध्ना संवित चमत्कारः'[25]। अर्थात् इसलिए समस्त सामाजिकों को एक रूप से प्रतीति होती है, जो के लिए अत्यन्त परिपोषक हो जाती है और अनादि वासना (संस्कार) से चित्रित चित्र वाले समवन्त सामाजिकों में समान वासना होने के कारण समान रस की प्रतीति होती है और विघ्नों से रहित वह प्रतीति आनन्द रूप चमत्कारी (अलौकिक) होती है।

अभिनवगुप्त का रसविचार

'अभिनवभारती' के आधार पर आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में अभिनवगुप्त के मत की व्याख्या की है–

'लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यमनुमानेऽभ्यासपाटववतां कावये नाटये च तैरवे कारत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्वादलौकिक विभावादिशब्दव्यवहार्य्यैर्ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति' (26) अर्थात् लोक में प्रमदा आदि के द्वारा इत्यादि स्थायी भाव के अनुमान करने में निपुण सामाजिकों को काव्य नाटक में कारणत्व आदि के परिहार से विभावन आदि व्यापार से युक्त होने से अलौकिक विभावादि शब्दों से व्यवहृत किये जाने वाले ये मेरे ही है, ये शत्रु के हैं, ये तटस्थ के हैं, ये मेरे नहीं है, इत्यादि के सम्बन्ध विशेष से रहित रहता है।

'सम्बन्धविषेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादि को नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलित परिभित प्रमातभाववषोन्भिषतवेद्यान्तर–सम्पर्कशून्यापरिभितभावेन प्रमात्रा सकलहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकारा इवभिन्नोऽपि गोचरीकृत'[27]

अतः इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के स्वीकार करने अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण रूप से प्रतीत होने वाले (विभावादि) से अभिव्यक्त सामाजिको में वासना के रूप में स्थित इत्यादि स्थायीभाव 'नियतप्रमातृ' रूप से स्थित होने पर भी (साधारणोपायबलात्) साधारण उपाय से उसी समय अर्थात् (रस स्वादन के समय) परिमित प्रमातृ भाव के नष्ट हो जाने पर वेधान्तर सम्पर्क शून्य और 'अपरिमिता' प्रमात्भाव के उदय होने से प्रमाता के द्वारा समस्त हृदयों में (सकलसहृदयसंवादभाजा) समान अनुभव से युक्त सामान्य रूप से अपने आकार (आत्मा) के समान अभिन्न रूप से अनुभूत होता है।

'श्चर्व्यमाणतैक प्राणः विभावादि जीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्त्यमाणः पुर परिस्फुरन हृदर्याभव प्रविशन सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्त्यसर्वमिव तिरोदधद, ब्रह्मास्वादमिवानुशावयन् अलौकिक चमत्कारी श्रृंगारादिको रसः[28] और आस्वादन स्वरूप वाला विभावादि की स्थिति पर्यन्त रहने वाला (विभावादिजीवितावधिः) पानक रस (इलायची, शक्कर, इमली, आम्र के मिश्रण से बना) के समान आस्वाहामान सामने परिस्फुरित होता हुआ सा, सारे अंगों को स्पर्श करता हुआ सा, अन्य सबको तिरोभूत करता हुआ सा, ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता हुआ सा अलौकिक चमत्कार (लौकिक वस्तु से परे) को उत्पन्न करने वाला श्रृंगारादि रस कहा जाता है।

''अभिनवगुप्त रस की अलौकिक स्वीकार किये हैं और इसकी अलौकिकता की सिद्धि भी करते हैं– लोक में पायी जाने वाली वस्तु दो प्रकार की होती है एक कार्यरूप, दूसरा ज्ञान्यरूप। घटपक्षादि कार्य है ये कारण से उत्पन्न होते हैं, दूसरे ज्ञान के विषय प्राप्त होते हैं। और दीपक के प्रकाश से घट का ज्ञान इसलिए दीपक के द्वारा घट ज्ञाप्य है। रस को तो न कार्य कहा जा सकता न ज्ञाप्य, कार्य इसलिए नहीं कहा जा सकता कि– कार्य पदार्थ अपने निमित्त (कारण) को नाश हो जाने पर भी बने रहते जैसे– कुम्हार के मर जाने पर घड़ा बना रहता है, यदि रस को कार्य माना जाय तो इसके निमित्त विभावादि के नष्ट होने पर उसकी प्रतीती होनी चाहिए; परन्तु विभावादि के नष्ट होने पर रस की प्रतीती नहीं होती इसलिए अभिनवगुप्त ने 'विभावादिजीवितावधि' विशेषण का प्रयोग किया, जिससे स्पष्ट है कि विभावादि का स्थितिपर्यन्त रस प्रतीती होती है, अतः रस कार्य नहीं है।''[29]

'रस ज्ञाम्य भी नहीं; क्योंकि गाम्य पदार्थ ज्ञान होने के पूर्व भी विद्यमान रहता है और बाद में भी विद्यमान रहता है; परन्तु रस की सत्ता न अनुभव के पूर्व काल में रहती है न अनुभव के बाद, जब तक रस अनुभूति होती है, तब तक ही उसकी सत्ता है, अतः रस ज्ञाम्य भी नहीं है।'[30]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि रस लौकिक वस्तु से परे कोई अलौकिक तत्त्व ही है– 'अलौकिक चमत्कारी श्रृंगारादिको रसः। आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या से स्पष्ट है कि इन्होंने रस तत्त्व को पूर्ण रूप से व्याख्यायित किया है, इसलिए इनका मत पूर्ववर्ती आचार्यों में सबसे मान्य एवं प्रामाणिक है।

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य–प्रका. डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी प्रकाशनाधिकारी, सं. संवि.वि., वाराणसी, प्रथम संस्करण नाटयशास्त्र षष्ठ अध्याय, पृ. 89.
2. नाटयशास्त्र षष्ठ अध्याय, पृ–89
3. ऋग्वेद– प्रथम मण्डल अध्याय – 16, सूक्त–16, मंत्र–6
4. तैन्तिरीयोपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ. 153
5. नाटयशास्त्र प्रथम अध्याय, पृ. 6
6. नाटयशास्त्र षष्ठ अध्याय, पृ. 33
7. नाटयशास्त्र षष्ठ अध्याय, पृ. 34
8. नाटयशास्त्र षष्ठ अध्याय, पृ. 93
9. नाटयशास्त्र षष्ठ अध्याय, पृ. 94
10. नाटयशास्त्र सप्त अध्याय, पृ. 257
11. नाटयशास्त्र सप्त अध्याय, पृ. 250
12. नाटयशास्त्र सप्तयोध्याय – पृ. 252
13. नाटयशास्त्र सप्तयोध्याय – पृ. 269
14. अभिनवरससिद्धान्त, पृ. 28
15. अभिनवरससिद्धान्त, पृ. 29
16. अभिनवरससिद्धान्त, पृ. 30, 31
17. शाकु., अ. – 1
18. कुमा. – 3.62
19. कुमा. – 3.62
20. अभिनवरससिद्धान्त, पृ. 31
21. अभिनवरससिद्धान्त, पृ. 32
22. अभिनवरससिद्धान्त, पृ. 32
23. अभिनवरससिद्धान्त, पृ. 32
24. अभिनवरससिद्धान्त, पृ. 32
25. काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, पृ. 108
26. काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, पृ. 108
27. काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, पृ. 108–109
28. काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, पृ. 109

29. काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, पृ. 109–110